P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-4* ISSUE-2* (Part-2) May- 2019
E: ISSN NO.: 2455-0817 *Remarking An Analisation*

दलित लेखक स्वीकार्यता की परंपरा और हिन्दी साहित्य

संजय कुमार
शोध–छात्र,
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर
विश्वविद्यालय,
सागर, म.प्र., भारत

चन्दा बैन
प्रोफेसर,
हिन्दी विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर
विश्वविद्यालय,
सागर, म.प्र., भारत

सारांश

आज दलित साहित्य का भारत में ही नहीं वरन् विश्व स्तर पर भी अध्ययन–अध्यापन किया जा रहा है दलित विमर्ष ने हिन्दी साहित्य को व्यापक स्तर पर सोचने के लिए एक नया प्लेटफार्म प्रदान किया, जिसका परिणाम है कि वर्तमान समय में हिन्दी साहित्य को दलित लेखन की अनुपस्थिति में समग्रता के साथ देखना संभव नहीं है। दलित साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता जन भावनाओं की सच्चाई को सब लोगों के सामने प्रकट करना है। जिससे समाज में जो जातिगत, रूढ़िवाद, जड़ता और मानसिक पिछड़ापन है वह खत्म हो। दलित साहित्यकारों के लेखन का उद्देश्य मनोरंजन करना और कलात्मक सुख की प्राप्ति के लिए लेखन करना नहीं है, बल्कि दलित शोषित समाज को जगाने वाला और बेचैन करने वाला साहित्य लिखना, दलित साहित्यकारों का उद्देश्य है। इस जागरण और बेचैनी से ही सामाजिक क्रियाशीलता का विकास होगा। दलित साहित्य का लेखन मानवतावादी है जिसमें सभी मानव एक समान है। दलित साहित्य के क्रांतिकारी परिवर्तन को गैर दलित साहित्यकारों ने उसकी वैचारिक ताकतों को समझा आर दलित साहित्य को हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा में स्वीकार किया।

मुख्य शब्द : दलित लेखन, दलित चिंतन, हिन्दी साहित्य, स्वीकार्यता।

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य में दलित लेखन की शुरूआत 90 के दशक से प्रारंभ होती दिखाई देती है। भारतीय राजनीति में सन् 1974 से 77 तक जो राजनीतिक परिवर्तन का दौर शुरू हुआ, उसी समय (1980) में दलित राजनीति के साथ–साथ दलित साहित्य लेखन का विस्तार हिन्दी राज्यों में होना शुरू हो गया था। सन् 1990 तक आते आते दलित साहित्य का एक दौर खत्म हो चुका था। सन् 1990 के बाद दलित साहित्य पत्र–पत्रिकाओं और मंचों के द्वारा अपना विस्तार कर रहा था। उसी समय 'हंस' पत्रिका ने दलित साहित्य की विचार धारा को लोगों तक पहुँचाने का कार्य किया। 'हंस' पत्रिका और 'युद्धरत आम आदमी' जैसी जनवादी पत्रिकाएं दलित लेखन को पूर्ण अवसर प्रदान कर रही थी, जिससे दलित लेखकों का एक वर्ग तैयार हुआ। जिसके परिणामस्वरूप दलित साहित्य लेखक सम्मेलन सन् 1997 में रमणिका गुप्ता द्वारा हजारीबाग बिहार में आयोजित कराया गया। ओमप्रकाश वाल्मीकि के अलावा गैर दलित लेखक राजेन्द्र यादव, मैनेजर पाण्डेय, मराठी दलित साहित्य के लेखक शरणकुमार लिम्बाले, डॉ. गंगाधर पनतावडे आदि साहित्यकार और आलोचकों ने साहित्य जगत की खूब चर्चा की और चर्चा के साथ–साथ अध्ययन अध्यापन के लिए विश्वविद्यालयों में दलित साहित्य को हिन्दी साहित्य से जोड़ने की बातों पर जोर दिया गया। जिसका परिणाम है कि दलित साहित्य का भारत में ही नहीं वरन् विश्व स्तर पर भी अध्ययन–अध्यापन किया जा रहा है। दलित विमर्श ने हिन्दी साहित्य को व्यापक स्तर पर सोचने के लिए एक नया प्लेट फार्म प्रदान किया। वर्तमान समय में हिन्दो साहित्य को दलित लेखन की अनुपस्थिति में समग्रता के साथ देखना संभव नहीं है। दलित साहित्य के संबंध में रमणिका गुप्ता का कहना है कि ''दलित साहित्य की परिभाषा और उसकी सीमा उतनी ही है जितनी मनुष्य की सीमा। इस दृष्टि से दलित साहित्य आज की सोच का प्रतिनिधित्व करता है।''[1] यह बात सही है कि दलित साहित्य ने अपने समय और समाज को जिस सच्चाई के साथ चित्रित किया है, उस प्रकार से किसी और ने नहीं किया। इसलिए यह कहा जा सकता है कि दलित साहित्य अब तक का सबसे यथार्थवादी साहित्य है।

दलित साहित्य के संबंध में मैनेजर पाण्डेय का मानना है कि ''हिन्दी में दलितों के जीवन पर उपन्यास और कविता लिखने वाले गैर–दलित ने अपने

वर्ग और वर्ण संस्कारों से मुक्त होकर ही दलित जीवन पर लिखा है। फिर भी उनके लेखन में अनजाने में ही सही सवर्ण संस्कार की छाया आ गयी है।''[2] जिसका उदाहरण नागार्जुन की कविता 'हरिजन गाथा' में देखा जा सकता है। इसी प्रकार जगदीशचंद्र माथुर का उपन्यास 'धरती धन न अपना', गिरिराज किशोर का उपन्यास 'परिशिष्ट' और अमृतलाल नागर का उपन्यास 'नाच्यो बहुत गोपाल' में दलित पात्र मेहतरानी से संस्कृत का श्लोक पढ़वाते हैं आदि रचना दलित जीवन की समस्या को तो उठती हैं लेकिन इनकी रचना दलित चेतना की नही, जनवादी वर्ग चेतना की रचना है। ऐसा दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि का मानना है।

हिन्दी साहित्य में प्रेमचंद ने डॉ. अंबेडकर के आंदोलनों से प्रभावित होकर 'ठाकुर का कुआं', 'दूध का दाम', 'आहुति' और 'मंत्र' जैसी कहानियां लिखी। जिस पर डॉ. अम्बडेकर के आंदोलन का प्रभाव है। 'गोदान' उपन्यास में भी दलित चेतन का प्रमाण है दलित साहित्य का नहीं। सर्वेश कुमार मौर्य का मानना है कि ''दलित जीवन के बारे में गैर दलितों के द्वारा लिखे साहित्य के प्रसंग में एक प्रश्न विचारणीय है। वह प्रश्न है संस्कार एवं अनुभव के द्वन्द्व का कभी–कभी रचना में रचनाकार के संस्कार रचनात्मक अनुभव की सीमा लांघकर प्रकट हो जाते हैं।''[3] ऐसा ही उदाहरण अमृतलाल नागर का उपन्यास 'नाच्यौ बहुत गोपाल' में मिलता है जहां संस्कार एवं अनुभव का द्वन्द्व दिखाई पड़ता है। लेखक चाहे गैर दलित हो या दलित उसे संस्कार और अनुभव के द्वन्द्व के बारे में सावधान रहना चाहिए। गोपाल उपाध्याय का उपन्यास 'एक टुकड़ा इतिहास' में भी दलित जीवन की त्रासदी और मार्मिक अभिव्यक्ति के बावजूद वर्ण व्यवस्था के ढ़ाँचे में ही दलित समस्या का समाधान खोजने की प्रवृत्ति प्रमुखतः उभर कर सामने आती है। जिस प्रकार गाँधी जी का दलित आंदोलन वर्ण व्यवस्था में सुधार चाहता था, उसी प्रकार 'एक टुकड़ा इतिहास' उपन्यास में भी दिखाया गया है। लेकिन दलित लेखक ऐसी किसी भी साहित्यिक प्रवृत्ति को दलित लेखन में नहीं स्वीकार करते हैं, जिस पर अंबेडकरवाद और बुद्ध के दर्शन का प्रभाव नहीं है। इसलिए दलित समस्या पर बात करना और समस्या को खत्म करना दोनों अलग–अलग बाते हैं। बात तो हर कोई करता है, पर समस्या का समाधान तो कोई एक विरला ही करता है। जिसका परिणाम है कि दलित साहित्य में अनेकवाद होने के बाद भी गैर दलित साहित्यकारों ने दलित साहित्य को स्वीकार कर रहा है। आज दलित साहित्य अपनी विकास परंपरा से आगे निकल चुका है। उसने अपना सौंदर्यशास्त्र भी गढ़ लिया है। हिन्दी का दलित साहित्य हिन्दी सहित्य की मख्यधारा में अपना स्थान बना रहा है। उसमें जो कला की कमी थी अब वह उसमें विकसित हो रही है। दलित साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता जन भावनाओं की सच्चाई को सब लोगों के सामने प्रकट करना है। जिससे समाज में जो जातिवाद, रूढ़िवाद, जड़ता और मानसिक पिछड़ापन है, वह खत्म होगा और दलित साहित्य के विकास से हिन्दी साहित्य को भी लोक संपृक्तता ग्रहण करने के उपरांत समग्रता प्राप्त होगी। हिन्दी समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा जो पहले बेजुबान था अब अपनी भावनाओं और समस्याओं को पूरी सच्चाई और ईमानदारी के साथ सबके सामने रख रहा है। दलित साहित्य के आलोचक श्यौराज सिंह बेचैन का मानना है कि– ''हिन्दी साहित्य की मुख्य धारा जिस तरह मध्यवर्ग की जिन्दगी की समस्याओं और आकांक्षाओं के बाड़ों में सिमटकर निर्जीव और निष्प्रभाव हो रही है वह दलित साहित्य के सामने आने पर व्यापक जनजीवन स जुड़ने की कोशिश करेगा और हिन्दी साहित्य जितना पश्चिम की ओर देखता है उतना इस देश के गाँवों की ओर नहीं और गाँव तथा शहरों के शोषित समुदाय की ओर तो और भी नहीं हिन्दी साहित्य की इन परिचममुखी प्रवृत्ति के सामने दलित साहित्य एक चुनौती के रूप म होगा, जो हिंदी साहित्य की मुख्य धारा के संवेदनशील रचनाकारों को इस देश की व्यापक जनता से जुड़ने की प्रेरणा देगा।''[4] दलित साहित्यकारों के लेखन का उद्देश्य मनोरंजन करना और कलात्मक सुख की प्राप्ति के लिए लेखन करना नहीं है, बल्कि दलित शोषित समाज को जगाने वाला और बेचैन करने वाला साहित्य लिखना, दलित साहित्यकारों का उद्देश्य है। इस जागरण और बेचैनी से ही सामाजिक क्रियाशीलता का विकास होगा। वर्तमान समय में चिंता का विषय यह है कि दलित लेखन भी राजनीति का शिकार होता जा रहा है। दलित साहित्य में जो मुक्ति संघर्ष का विचार चल रहा है, उसे भूमंडलीकरण की चक्रव्यूही शक्तियों ने भटकाव का रास्ता दिखा दिया तथा दूसरी तरफ जातिवाद के नरक में दमघोटू परिवेश के कारण मुक्ति संघर्ष का सामाजिक जीवन डगमगा गया। जिसे समझना होगा दलित लेखन यातना–वेदना–अपमान–अन्याय के भीतर से निकले विचारों के व्यापार की करेंसी खरी–खरी होने पर भी गले क्यों नहीं उतर रही है। ''इसका सबसे बड़ा कारण वर्चस्ववादियों का प्रपंचवाद, घमंडवाद इसे स्वीकार करने में अपनी हेठी समझ रहा है इसलिए स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी कोई बड़ा प्रबुद्ध वैचारिक आंदोलन हिंदी क्षेत्र में पनपा ही नहीं कुछ दिनों तक यह समाजवाद–मार्क्सवाद–साम्यवाद से चमकने की तमन्ना व्यक्त करता रहा और फिर धूमकुलिन हो गया।''[5] हिन्दी क्षेत्रों में पूंजीवाद, बाजारवाद और अन्य उपभोक्तावादी ताकतें हिन्दी साहित्य पर काबिज होती गयी। भूमंडलीकरण के अर्थशास्त्र ने समाजवाद को अगस्त्य की तरह पी लिया, जिससे दलित साहित्य के साहित्यशास्त्रीयों ने अंबेडकरवाद के चिंतन से प्रेरणा लेकर साहित्य का नया समाजशास्त्र गढ़ने का संकल्प दृढ़ किया। जिसका प्रभाव हिन्दी साहित्य में दलित विमर्श की शुरुआत से हुआ। आज हिन्दी साहित्य दलित लेखन को अलग नहीं मानता है, वह अब हिन्दी लेखन के अंतर्गत ही स्वीकार किया जा रहा है। देवेन्द्र चौबे दलित साहित्य लेखन के विषय में कहतें है कि– ''दरअसल दलित साहित्य पर विचार और विमर्श की प्रक्रिया में कुछ ऐसे संकेतों और प्रतीकों से टकराना पड़ता है जिसे वर्ण व्यवस्था क सहारे रचा अथवा गढ़ा गया है।''[6]

परंपरा में कुछ चीजों को उत्कृष्ट और पवित्र घोषित किया गया है। जैसे ज्ञान के संस्थान, गुरु, पुस्तकें (गीता, मनुस्मृति, रामचरितमानस आदि) और कुछ परंपरा

जैसे मूर्तिपूजा की खास पद्धतियां, सामुदायिक संहिताएं जिसे खास समाज की स्त्रो अथवा दलित पर थोप दिया जाता है, आदि ये विकृतियां परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाओं को रूढ़ बनाती है। इन्हीं रूढ़ि से मुक्ति पाने की बात दलित लेखन करता है तथा विशेष परिस्थितियों में इनके वजूद का प्रतिरोध करते हुए उसे परिवर्तन और विकास का सबसे बड़ा शत्र घोषित करता है। वह मानता है कि ये संरचनाएं सामाजिक गुलामी का सबसे बड़ा कारण है। बिना इनसे मुक्ति के स्वधीनता का कोई अर्थ नहीं है। सामाजिक गुलामी से मुक्त होकर दलित समाज आर्थिक संपन्नता और आत्मसम्मान के साथ समाज में जीवन व्यतीत कर सकता है। यह दलित समाज के आत्मगौरव का केंद्रीय भाव है। इन सामाजिक व्यवस्था से दलित लेखकों ने नये साहित्य का समाजशास्त्र रचा है। यह आशा आकांक्षा का वह द्वन्द है, जो अतीत में घटित घटनाओं से प्रेरणा लेकर लिखा जा रहा है। वास्तव में दलित साहित्य हिन्दी साहित्य में तब आया जब साहित्य की दुनिया तरह–तरह के दबावों से घिरी हुई थी। चाहे वह बाबरी मस्जिद के ध्वंस का दबाव हो अथवा आर्थिक उदारीकरण और वैश्वीकरण का, साहित्य की इस धारा ने समय के इन दबावों को तोड़ा और सदियों से उत्पीड़ित एवं वंचित समाज के लोगों को एक बेहतर जीवन जीने का अवसर प्रदान किया। हिन्दी के नए आलोचक, दलित लेखन के सवाल को गंभीरता से लेते रहे और उसके समाधान का रास्ता भी खोजते रहे।

देवेन्द्र चौबे ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' में ''एक दलित छात्र की जिस पीड़ा का बयान करते हैं वह एक शिक्षण संस्थान मे दलितों को वास्तविक स्थिति को दर्शाता है और इस पीड़ा का सबसे बड़ा कारण यही है कि दलित समाज के बारे में आम तौर से यह राय बना ली गई है कि समाज की गंदगी को साफ करना या उन निकृष्ट कार्यों को करना उनका मुख्य काम है। जिन्हें कोई और नहीं करना चाहता इसलिए मुख्यधारा का समाज उनसे आशा करता है कि दलित समाज उनकी जिंदगी में व्याप्त उन तमाम असंगतियों (गंदगियों) को निकाल बाहर करे जो उनके विकास में बाधक है।''[7] अर्थात इन बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि दलित समाज सवर्ण समाज से यह कहना चाहता है कि वह यह भाव अपने अन्दर से निकाल दे की दलित ही निम्न कार्य करने के लिए बाध्य है। अर्थात् उसके मुक्ति का नया मार्ग खोजा जाए। जिससे समाज का कोई व्यक्ति किसी की दृष्टि में दीनहीन न रहे।

दलित लेखन में लेखक अपनी ही दीन हीन दशा का वर्णन नहीं करता है, अर्थात् वह सदियों से उपेक्षित समाज का वर्णन करता है। जो समाज बिखरा हुआ था उसे एक सूत्र में बांधने का काम कर रहा है। हिन्दी के दलित लेखन पर विचार करें तो पता चलता है कि ''जन्म' और जाति के कारण हो रहा शोषण दमन एवं उत्पीड़न दलित साहित्य के केन्द्र में है। दलित साहित्यकारों की आत्मकथा 'जूठन', 'अपने–अपने पिजरे', 'तिरस्कृत', 'दोहरा अभिशाप', आदि में 'वर्ण' और जाति केन्द्रित सामाजिक व्यवस्था में ही दलित शोषण का कारण माना है।''[8] जिसकी अवधारणा वर्ण और जाति पर आधारित है जो वर्ण और जाति व्यवस्था का प्रतिरोध करेगा वही दलित साहित्य और दलित लेखन के अंतर्गत माना जा सकता है, जिसे गैर दलित लेखकों ने भी माना है।

वर्तमान समय में दलित साहित्य सभी भाषाओं में लिखा जा रहा है। दलित साहित्य का स्वरूप अखिल भारतीय है। इसकी चेतना संपूर्ण भारत में हिन्दूवादी उत्पीड़न के विरूद्ध है, जिसका हिन्दी के आलोचक विरोध करते हैं। नामवर सिंह ने एक परिसंवाद में कहा है कि– ''इनकी कुछ विशेषताएँ हैं सारी सवर्ण व्यवस्था के खिलाफ गुस्सा और उसको तोड़कर एक नयी व्यवस्था के निर्माण के लिए पहल लेकिन वह गुस्सा है, फिलहाल गुस्सा और नफरत उनका नया कार्यक्रम है।''[9] लेकिन संपूर्ण दलित साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि डॉ नामवर सिंह का आरोप निराधार है। दलित सहित्य में शोषणवादी व्यवस्था के प्रति विरोध अवश्य है लेकिन वह नफरत का साथी नहीं है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है ''दलित शब्द भाषावाद, अलगाववाद, जातिवाद क्षेत्रवाद को नकाराता है। तथा पूरे देश को एकता के सूत्र में पिरोने का कार्य करता है।''[10] कँवल भारती इस पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि– कुछ आलोचक दलित कविता के सर्जनात्मक मूलपर आघात करते हुए आरोप लगाते हैं कि दलित कविता अपने सहयोगो समुदायों के प्रति घृणा और विरोध व्यक्त करती है। दलित कविता का सर्जनात्मक मूल क्या है। वह है, समाज में मानवोचित समानता और सम्मान प्राप्त करना दलित रचनाकार की रचनाधर्मिता मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा पर केंद्रित है उसे घृणा और विरोध की संज्ञा देना स्पष्ट शब्दा में दास्ता को घोषित करना है।''[11] दलित साहित्य वैमनस्य का नहीं बल्कि मैत्री का पक्षधर है जो ब्राह्मणवादी, जातिवादी और वर्ण व्यवस्था का इसलिए विरोधी है कि ये व्यवस्थाएं ही दलितों की दुर्गति का कारण रही हैं।

हिन्दी के वरिष्ठ आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने कहा है– ''जन्मना दलित होने के कारण अनुभव के जिन आसंगों से एक आदमी को गुजरना पड़ता है उसका प्रत्यक्ष अनुभव स्वयं एक दलित को जैसा है, अपनी पूरी अनुभूतियों व कल्पना का विस्तार करने के बावजूद मैं जो एक गैर दलित हूँ उस अनुभव का उसी तीव्रता और तनाव से अनुभव नहीं करा सकता इस बात को समझते हुए अगर साहित्य में उनका अनुभव उसी तीव्रता से व्यक्त होता है जैसाकि मराठी की अनेक दलित रचनाओं को पढ़कर अनुभव होता है तो वह सच्चे अर्थों में दलित साहित्य है।''[12] डॉ. मैनेजर पाण्डेय भी यह स्वीकार करते हुए 'राख ही जानती है जलने का अनुभव' अर्थात् कहा है कि, ''सच्चा दलित साहित्य लेखन वही होगा जो दलितों के बारे में दलित के भोगे हुए यथार्थ को लिखेगा। अपने समुदाय के जीवन के यथार्थ और अनुभवों के बारे में कोई दलित लिखता है तो उसकी दृष्टि में जो आज चित्रों से आभा आर भाषा में जो ऊर्जा होती है, वह गैर दलितों के द्वारा दलितों के बारे में लिखे गये साहित्य में नहीं होती।''[13] इनके अतिरिक्त राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, महीप सिंह आदि लोगों ने इस परिभाषा को स्वीकार किया है। इसलिए तो प्रेमचंद व गैर दलितों को वह दर्द, पीड़ा,

वेदना कम ही दिखाई पड़ती है। जो दलित लेखन में होती है इसलिए यह कहा जा सकता है की दलित चेतना तो प्रेमचंद के साहित्य के पहले भी आ चुकी थी लेकिन दलित साहित्य नहीं, आज जो भी दलित लेखन गैर दलित कर रहे हैं, वह हिन्दी सहित्य में स्वीकार है लेकिन दलित लेखन और गैर दलित लेखन का द्वंद्व अभी भी जारी है। बजरंग बिहारी तिवारी दलित साहित्य के संबंध में कहते हैं– ''दलित साहित्य के पास एक भविष्य दृष्टि है उसकी कामना एक ऐसा समाज बनाने की है जिसमें वास्तविक जनतंत्र हो जहाँ किसी व्यक्ति के साथ अन्याय करना संभव न हो व्यक्ति अपनी पहचान खुद बनाए उन पर कोई पहचान पैदा होने के साथ थोपी न जाए। हिंसा घृणा और अपमान की जगह करूणा, विश्वास भाईचारा और स्वतंत्रता हो। जीवन मूल्य सार्वभौम मानवता के आधार पर पुनसृजित हो।''[14] यह कहा जा सकता है कि दलित साहित्य का लेखन मानवतावादी है जिसमें सभी मानव एक समान है। ''दलित साहित्य और सामाजिक आंदोलन के बीच परस्पर संपूरक का रिश्ता है। सामाजिक आंदोलन ने अंबेडकरी विचार और 'विजन' का सम्बल पा कर दलित विकसित किया और दलित साहित्य ने अपनी सर्जनात्मक सक्रियता से सामाजिक आन्दोलनों का पोषण किया, दिशा–निर्धारण में सहायता की।''[15]

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि दलित साहित्य का लेखन प्रारंभिक दौर में विद्रोह और आक्रोश के रूप में आया। जिस प्रकार समाज और राजनीति में सामाजिक परिवर्तन हुआ। उसी प्रकार साहित्य में भी परिवर्तन हो रहा है। दलित साहित्य आज आत्म सम्मान के साथ–साथ सत्ता साहित्य में प्रतिनिधित्व की बात पर आ गया है। दलित साहित्य के क्रांतिकारी परिवर्तन को गैर दलित साहित्यकारों ने उसकी वैचारिक ताकतों को समझा और दलित साहित्य को हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा में स्वीकार किया। जिस प्रकार मराठी साहित्य में दलित साहित्य को स्वीकार किया जाने लगा था। उसी प्रकार दलित साहित्य को स्वीकार कर परिवर्तन किया जा रहा है। दलित साहित्य का लेखन उपभोग और मनोरंजन का नहीं, सामाजिक परिवर्तन का साहित्य है जिसे सभी ने स्वीकार किया है।

पाद टिप्पणी

1. *दलित साहित्य का समाजशास्त्र, डॉ. हरिनारायण ठाकुर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष– 2009 पृ.स. 69*
2. *वही, पृ. स. 67*
3. *मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और दलित दृष्टि, सर्वेश कुमार मौर्य, स्वराज प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015, पृ.स. 45*
4. *वही, पृ.स. 109*
5. *दलित साहित्य विमर्श, कृष्णदत्त पालीवाल, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 2018, पृ.स. 127*
6. *आलोचना का जनतंत्र देवेन्द्र चौबे, आधार प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा, प्रकाशन वर्ष– 2011, पृ.सं. 160*
7. *वही, पृ.सं. 182*
8. *वही, पृ.सं. 199*
9. *नयापन (जनवादी लेखक संघ की केंद्रीय पत्रिका) अंक–26 प्रकाशन वर्ष– 1998, नई दिल्ली, पृ.स.9*
10. *ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य और सामाजिक संदर्भ शिखर की ओर सं. डॉ. एन. सिंह पृ.स. 406*
11. *कँवल भारती, दलित कविता का अर्थ (लेख) दलित साहित्यः चिंतन के विविध आयाम, सं. डॉ. एन. सिंह, पृ. 94.*
12. *नया पथ, (जनवादी लेखक संघ की केंद्रीय पत्रिका) अंक 26 1998, नई दिल्ली, पृ.सं. 12.*
13. *युद्धरत आम आदमी त्रैमासिक पत्रिका, हजारीबाग जुलाई–सितम्बर अंक 1995, पृ.स. 182.*
14. *दलित साहित्य एक अंतर्यात्रा, बजरंग बिहारी तिवारी, नवारूप प्रकाशन, गाजियाबाद उ.प्र., प्रकाशन वर्ष 2015, पृ.स. 29*
15. *वही, पृ.स. 138*